पूज्य लालचंदभाई का प्रवचन
प्रश्नोत्तरी और चर्चा १, प्रवचन नंबर ५६८
ता. ३१-०७-१९९०, ०१-०८-१९९०

मुमुक्षु: आपने जो २७१ वाँ कलश चलाया है उसके संदर्भ में सेंकड़ों प्रश्न आ चुके हैं। अगर आप एक महीने रहें तो भी वो पूरे नहीं होंगे। प्रश्नकर्ता भाईयों से निवेदन हैं कि जितने आ गए हैं उन प्रश्नों को ही ध्यान से सुनें तो उनमें ही उनका उत्तर आ जाएगा। अभी कृपया नए चिट्ठी न भेजें।

पहला प्रश्न इस प्रकार है (कि) ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावों सहित वस्तु है। तो ये व्यवहारनय का विषय है या निश्चयनय का विषय है?

पू. लालचंदभाई: ज्ञानप्रधान निश्चय है, दृष्टिप्रधान निश्चय नहीं है। दृष्टिप्रधान निश्चय में तो परिणाममात्र से आत्मा भिन्न है। ऐसा जब दृष्टि का विषय दृष्टि में आवे तब उपयोग अभिमुख हो जाता है। तो अभिमुख होने से आत्मा का जब अनुभव होता है, तब मैं ही ज्ञाता, मैं ही ज्ञान और मैं ही ज्ञेय ऐसा अभेदरूप अनुभव हो जाता है, उसका नाम ज्ञेय है। ध्येयपूर्वक अनुभव के काल में ज्ञेय होता ही है। अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय जो अभेद है वो दृष्टि का विषय नहीं है; मगर दृष्टिपूर्वक ज्ञान प्रगट होता है, सम्यग्ज्ञान, उसमें अभेद - ऐसी अनुभूति होती है, ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की, ध्यान-ध्याता-ध्येय की एकता हो जाती है।

मुमुक्षु: ज्ञानप्रधान निश्चय का विषय है ये पूरा?

पू. लालचंदभाई: ज्ञानप्रधान निश्चय।

मुमुक्षु: ज्ञानप्रधान निश्चय का विषय है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! अथवा वो ज्ञेय बन गया। आत्मा अनंतकाल से ज्ञेय नहीं बना था, उस ज्ञेय के अंदर **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ३०), **गुणपर्ययवत् द्रव्यं** (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३८) सब आ जाता है, ज्ञेय है।

मुमुक्षु: निश्चयनय - ऐसे दो भेद तो कहीं पढ़े नहीं कि ज्ञानप्रधान निश्चय अलग होता है (और) दृष्टिप्रधान निश्चय अलग होता है?

पू. लालचंदभाई: होता है, बहुत होता है, बहुत आता है। बहुत आता है, नय लगाकर। नहीं आता है ऐसा नहीं है; आता है। जैसे प्रवचनसार (गाथा १८९) में तो वहाँ तक आया कि राग आत्मा में होता है, वह शुद्धनय का विषय है। बोलो! तो क्या करें? तो पर में नहीं होता है, पर से नहीं होता है, एक द्रव्य में होता है इसलिए ज्ञानप्रधान कथन से ऐसी शैली आती है। (मगर) श्रद्धा का विषय नहीं है (वो)।

मुमुक्षु: त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव का स्वचतुष्टय और पर्याय स्वभाव का स्वचतुष्टय क्या भिन्न-भिन्न है?

पू. लालचंदभाई: द्रव्यस्वभाव जो ज्ञायक है ध्रुव, उसके अंदर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (है)। द्रव्य के अंदर वो गुण-भेद, गुण-गुणी का भेद नहीं है। क्षेत्र के अंदर पदार्थ-भेद, प्रदेश-भेद नहीं है। काल की अपेक्षा से भूतकाल, वर्तमान, त्रिकाल ऐसा भेद नहीं है। भाव की अपेक्षा से गुण और गुण के बीच में भेद नहीं है। ऐसा अभेद सामान्य शुद्धनय का विषय जो उपादेय (है) वो ज्ञायक, स्वचतुष्टय कहा जाता है। और पर्याय से सहित आत्मा परिणामी लो वह भी स्वचतुष्टय होता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव, परिणामी आत्मा। पहले अपरिणामी कहा, बाद में आत्मा परिणमता है। वो भी स्वचतुष्टय, जैसे केवली भगवान स्वचतुष्टय से परिणमते हैं न अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, ऐसा हो जाता है।

मुमुक्षु: पर्याय का चतुष्टय और द्रव्य का चतुष्टय अलग-अलग है कि एक ही वस्तु में ये दोनों चीजें है?

पू. लालचंदभाई: द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है; एक दूसरे में इसका अभाव है। द्रव्य में पर्याय की नास्ति और पर्याय में द्रव्य की नास्ति ऐसा है, अस्ति-नास्ति अनेकांत।

मुमुक्षु: निर्विकल्पप्रमाण और सविकल्पप्रमाण का स्वरूप स्पष्ट कीजिये?

पू. लालचंदभाई: निर्विकल्पप्रमाण का अर्थ तो ऐसा है कि जब ज्ञायक के सन्मुख आत्मा आता है और अनुभव का काल है, तब अंदर में आत्मा स्व है (अर्थात्) ज्ञायक और आनंद आदि पर हैं, अथवा ज्ञान स्व है, आनंद आदि पर्यायें पर हैं। वह स्व-पर को निश्चय से स्वपरप्रकाशक - सारा प्रमाण का विषय (कहा), निर्विकल्पप्रमाण हो गया वो। और बाहर में आता है तो सविकल्पप्रमाण भी होता है। सविकल्पप्रमाण में भेद की अपेक्षा आती है। उसको निर्विकल्प अभेद होता है और प्रमाणज्ञान में दो प्रकार हैं; एक अध्यात्मप्रमाण और एक आगमप्रमाण। अध्यात्मप्रमाण में द्रव्य-गुण-पर्याय शुद्ध होती है, वो अध्यात्मप्रमाण का विषय है। और आगमप्रमाण में साधक को थोड़ा राग रहता है, वो भी प्रमाण के विषय में गर्भित हो जाता है। साधक को वीतरागभाव भी है, थोड़ा रागभाव भी है वो भी प्रमाणज्ञान के अंदर आ जाता है - ये आगमप्रमाण कहा जाता है। यह प्रवचनसार की शैली है।

मुमुक्षु: अध्यात्मप्रमाण वो निर्विकल्पप्रमाण है और आगमप्रमाण वो सविकल्पप्रमाण है?

पू. लालचंदभाई: ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। आहाहा! निर्विकल्पप्रमाण में तो ये सारा स्वचतुष्टय अभेद स्वपरप्रकाशक अंदर में है (सब) एक जाति का प्रमाण (है); द्रव्य शुद्ध और पर्याय भी शुद्ध। और आगमप्रमाण में राग की पर्याय की योग्यता शामिल करके आगमप्रमाण कहा जाता है। थोड़ा (राग) है न, अभी वीतराग नहीं हुआ न, इसलिए।

मुमुक्षु: निर्विकल्प और सविकल्प ऐसे दो भेद किस आधार पर किये गए हैं?

पू. लालचंदभाई: निर्विकल्प यानि निर्विकल्प में तो अंदर में गया, तो निर्विकल्प। बाहर में आया तो सविकल्पप्रमाण।

मुमुक्षु: एक और प्रश्न है कि निर्विकल्प स्वानुभूति मतिज्ञान में होती है कि श्रुतज्ञान में?

पू. लालचंदभाई: श्रुतज्ञान में होती है।

मुमुक्षु: मतिज्ञान में क्यों नहीं होती?

पू. लालचंदभाई: मतिज्ञान कमजोर है, बहुत बलवान नहीं है। पहले मतिज्ञान (आत्मा के) सन्मुख होता है, बाद में मतिज्ञान लब्धरूप हो जाता है; और श्रुतज्ञान विशेष तर्कनारूप है। तो उस श्रुतज्ञान के अंदर नय का विकल्प छूट जाता है, अर्थात् अनुभूति हुई।

मुमुक्षु: कल के प्रवचन में आया था (कि) लोक में जितने द्रव्य हैं वे मेरे ज्ञेय और मैं उसका ज्ञायक, ऐसा नहीं जानना। यदि ऐसा सर्वथा मानेंगे, तो सर्वज्ञता का जो लक्षण आगम में कहा है (कि) केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं तो ये कथन कैसे सिद्ध होगा?

पू. लालचंदभाई: यह कथन व्यवहारनय का है। अभी चलती है बात (कि) आत्मा का अनुभव कैसे हो? तो आत्मा ज्ञाता और लोकालोक मेरा ज्ञेय, ऐसे पक्ष में पड़ जाता है तो उपयोग परसन्मुख हो जाता है। लोकालोक मेरे ज्ञान का ज्ञेय ही नहीं है; मेरा आत्मा ही ज्ञेय है, ऐसा करने से (अनुभूति होती है), निश्चय का कथन है। निश्चयनय यानि सत्यार्थ कथन है, अनुभव के काल में ऐसा होता है। उससे ही अनुभव होता है। स्व-पर दो को जानता है ऐसा नहीं है। बाकी केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं वो व्यवहारनय का कथन है। सर्वथा नहीं है, झूठ है ऐसी बात नहीं है। उसका खुलासा अभी आया था कि स्वपरप्रकाशक है तो भी स्व-पर (का) जो प्रतिभास रहता है, ऐसी अपनी ज्ञान की पर्याय जानने में आती है; तो उसमें लोकालोक का ज्ञान आ जाता है। लोकालोक को जानता है, लोकालोक को नहीं जानता (है ऐसा) नहीं है (मगर वो) व्यवहारनय का कथन है।

मुमुक्षु: आप फरमाते हैं कि केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं, यह व्यवहारनय का कथन है।

पू. लालचंदभाई: हाँ! व्यवहार का अर्थ दो प्रकार है। एक तन्मय नहीं है इसलिए व्यवहार और पर की अपेक्षा आती है इसलिए व्यवहार।

मुमुक्षु: और स्व को ही जानता है निर्विकल्प अनुभव के काल में यह निश्चयनय का कथन है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! स्वाश्रित निश्चयनय।

मुमुक्षु: तो निश्चयनय छद्मस्थ के ऊपर यानि अनुभव करनेवाले के ऊपर लागू हुआ और व्यवहारनय केवली भगवान के ऊपर लागू किया गया?

पू. लालचंदभाई: नहीं! ऐसा नहीं है। अपने ऊपर ही लागू होता है। देव-गुरू-शास्त्र को जानता है तो व्यवहार है। देव-गुरू-शास्त्र को जाने वो व्यवहार है। नहीं जानता है, ऐसा नहीं। परंतु व्यवहारनय से जाना जाता है इसका अर्थ (कि) उसमें तन्मय होता नहीं है। दूसरा, वो पर की अपेक्षा आई, पर की अपेक्षा आई तो व्यवहार हो गया। स्वाश्रित निश्चयनय और पराश्रित व्यवहारनय, ऐसा (समयसार गाथा २७२ में) पाठ है।

मुमुक्षु: अरहंत भगवान सर्वज्ञ हैं ये बात तो निश्चय से ही कही न फिर?

पू. लालचंदभाई: निश्चय से सर्वज्ञ हैं, व्यवहार से सर्वज्ञ नहीं है।

मुमुक्षु: तो फिर मानता है कि लोकालोक को जानते है वो व्यवहार है?

पू. लालचंदभाई: लोकालोक को जानते हैं वो व्यवहार है। अपने को जाने और लोकालोक को जाने वो भी व्यवहार है। पर को जाने वो तो व्यवहार है ही, परंतु केवली भगवान अपनी आत्मा को भी जानें और लोकालोक को जानें उसका नाम भी व्यवहार है। प्रमाण लक्षण जिसका है ऐसा व्यवहार हो गया वो। यह नियमसार के अंदर १५९ गाथा में है, १५९।

मुमुक्षु: प्रवचन के संदर्भ में ही एक प्रश्न है, ज्ञेयों के आकाररूप होता हुआ ज्ञान यह तो कथनमात्र है - ऐसा जो आज प्रकरण सुबह आया था। सो जब ये बात कथनमात्र है तो ये कथन किया क्यों जाता है? कथनमात्र कहा तो इसका कुछ मतलब तो होगा?

पू. लालचंदभाई: मतलब तो ऐसा है (कि) उसका प्रतिभास होता है तो ज्ञेयाकार ज्ञान कहा जाता है मगर सचमुच तो ज्ञानाकार है, वहाँ ले जाना है। ज्ञेयाकार ज्ञान का तिरोभाव करके सामान्य का आविर्भाव जब होता है तब अनुभव होता है। ज्ञेयाकार ज्ञान के आविर्भाव से अनुभव नहीं होता है (क्योंकि) वो तो अज्ञान है। ज्ञेय के संबंधवाला जो ज्ञान (है) वो ज्ञेयाकार ज्ञान है, अनुभव के काल में वह तिरोभूत हो जाता है और सामान्यज्ञान का आविर्भाव (यानि) प्रगट हो जाता है। यह जो गाथा है न गुरुदेव की, यह अनुभव करने के लिए है। अनुभव के बाद क्या होता है वह दूसरी बात है और अनुभव करने के लिए क्या है वह दूसरी बात है; वो अलग-अलग हैं, दोनों बातें। आहाहा!

मुमुक्षु: तो ऐसा समझना चाहिए कि आत्मा जानता तो है सबको, लेकिन अनुभव करने के लिए ऐसा कह रहे हैं कि पर को नहीं जानता है? केवल अनुभव करने की बात हुई ये तो। (क्यों) कि जानता तो है न पर को आत्मा।

पू. लालचंदभाई: पर जणित (जानने में आ) जाता है, पर को जानता नहीं है। पर (के) ऊपर लक्ष होता नहीं है ज्ञान का। ज्ञान का, कभी केवली भगवान का ही लक्ष लोकालोक पर नहीं है और श्रुतकेवली हैं, श्रुतज्ञानी हैं, साधक हैं, उनका (भी) लक्ष राग पर नहीं है, राग जणित जाता है, जानता नहीं है। जाना हुआ प्रयोजनवान है (समयसार गाथा १२) - ऐसा लिखा है, जाना हुआ प्रयोजनवान; मगर वो जानने में आ जाता है, सहज में जानने में आ जाता है लक्ष बगैर। केवली भगवान के ज्ञान में लोकालोक जानने में आ जाता है, उसका अर्थ लोकालोक को जानता है और उस की ओर लक्ष है - ऐसा नहीं। इन्द्रियज्ञान का अनुभव ऐसा है अनादि से कि जैसे ही पर को जानने के लिए जब लक्ष करे तब जानने में आवे, तो उस अनुभव को आगे करता है कि केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं। लोकालोक को नहीं जानते हैं, लोकालोक जणित जाता है।

मुमुक्षु: आत्मा का अनुभव तो सम्यग्दृष्टि को बहुत थोड़े समय के लिए होता है तो बाकी के समय में वो (उसको) बुद्धिपूर्वक क्या करना चाहिए?

पू. लालचंदभाई: भेदज्ञान का विचार करना चाहिए। (और) क्या करना चाहिए? भेदज्ञान (तो) चलता ही है। समझ में आया प्रश्न क्या (है)? कि निर्विकल्पध्यान में तो ठीक है मगर

सविकल्पदशा में आवे तो शुभराग (तो) करे कि नहीं साधक? करता नहीं है; आता है, उसको जानता है। करने की बात नहीं है। होता है, साधक को राग होता है। पाँच महाव्रत भी होते हैं, देशव्रती को होते हैं, अविरत सम्यग्दृष्टि को देव-गुरु-शास्त्र पर ऐसा राग होता है, आता है, जाता है, जानता है। आता है, होता है, जानता है। बस! जानता-जानता है और कुछ नहीं है, द्रव्य को भी जाने और पर्याय को भी जाने, जाननहार है भैया!

मुमुक्षु: प्रवचन में एक बात ये आयी थी कि ध्येय को प्रसिद्ध करके उत्पाद होता है और ध्येय को ही प्रसिद्ध करके व्यय होता है।

पू. लालचंदभाई: बराबर! ऐसा ही है।

मुमुक्षु: तो इसमें प्रश्न है कि जब पर्याय का अभाव ही हो गया तो वो ध्येय को प्रसिद्ध कैसे करती है?

पू. लालचंदभाई: वो व्यय हुआ न तो व्यय तो हुआ मगर उसको प्रसिद्ध करके ही व्यय होती है (पर्याय)। उत्पाद ने ध्रुव को प्रसिद्ध किया, करने के बाद ही व्यय होती है। प्रसिद्ध किए बिना व्यय नहीं होती है; ऐसा उपयोग लक्षण है। ऐसी प्रक्रिया अनादि-अनंत चालू है, function (प्रक्रिया) चालू है - उपयोगमय भगवान ध्रुव परमात्मा समय-समय पर जानने में आता है। स्वीकार नहीं करता है वो उसकी भूल है।

मुमुक्षु: अज्ञानी को भी ये बात लागू होती है?

पू. लालचंदभाई: अज्ञानी को, अज्ञानी को लागू पड़ती है। अज्ञानी स्वीकार करे तो ज्ञानी बन जाये। वो स्थिति है (कि) आबाल-गोपाल सबको भगवान आत्मा अनुभव में आ रहा है। आहाहा!

मुमुक्षु: निगोदिया जीव में भी?

पू. लालचंदभाई: निगोदिया जीव में भी ज्ञायक जानने में आता है, अनुभव।

मुमुक्षु: यह कैसे हो सकता है कि निगोदिया को भी ज्ञायक जानने में आता है?

पू. लालचंदभाई: हाँ जरूर! प्रतिभास होता है। उसके अंदर स्वपरप्रकाशक की ज्ञप्ति है। पंचास्तिकाय शास्त्र १२१ गाथा; उसमें आचार्य भगवान ने लक्षण दिया है कि सभी जीवों को - एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, भव्य-अभव्य सबको एक स्वपरप्रकाशक की ज्ञप्ति है। ज्ञप्ति यानि ज्ञान की पर्याय की स्वच्छता है, उसमें स्व-पर दोनों का प्रतिभास होता है। दो का प्रतिभास होने से बंध-मोक्ष की सिद्धि होती है। दो का प्रतिभास होता है उसमें बंध-मोक्ष की (सिद्धि होती है); पर के प्रतिभास (को) वो उपयोगात्मक करता है तो आस्रव की उत्पत्ति होती है; और स्व के प्रतिभास (को) उपयोगात्मक करे, उसको (पर को) गौण करे और उसके (स्व के) अंदर आवे तो संवर प्रगट हो जाता है।

मुमुक्षु: तो इन दो के प्रतिभास में बंध-मोक्ष की प्रसिद्धि होती है - ऐसा आपने फरमाया।

पू. लालचंदभाई: बराबर।

मुमुक्षु: तो ये दो का प्रतिभास उपयोग में होता है?

पू. लालचंदभाई: उपयोग में चालू; लब्ध की बात नहीं है। सबके पास उपयोग लक्षण है कि नहीं (जैसा) तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय २ सूत्र ८) में (बताया)?

मुमुक्षु: हाँ जी।

पू. लालचंदभाई: उस उपयोग की बात है।

मुमुक्षु: उपयोग में भगवान आत्मा जानने में आता है तो यह शुद्धोपयोग क्या होगा तब तो फिर?

पू. लालचंदभाई: नहीं! शुद्धोपयोग नहीं हुआ। मैंने कहा न? कि उस प्रतिभास को नहीं पकड़ता है। देह के प्रतिभास को पकड़ता है, देह पर लक्ष करता है तो देह में अहंबुद्धि करता है। उसके (स्व के) प्रतिभास को छोड़ दिया तो उसके (देह के) प्रतिभास को स्वीकार कर लिया। प्रतिभास दो का है, ज्ञप्ति है, स्वपरप्रकाशक की ज्ञप्ति है।

मुमुक्षु: आत्मानुभव की प्रक्रिया आदि से अंत तक कैसी होती है? कृपया स्पष्ट करें।

पू. लालचंदभाई: भेदज्ञान से होती है। पुण्य-पाप से मेरा आत्मा भिन्न है और अनंतगुण से मैं अभिन्न हूँ और वो ही जानने में आता है मेरे को। पुण्य-पाप का लक्ष छोड़े और आत्मा का लक्ष करे तो अनुभव हो जाता है। पुण्य-पाप (को) नहीं छोड़ना (है), पुण्य-पाप का लक्ष छूटता है, पर्याय का; **पर्यायार्थिक चक्षु** (प्रवचनसार गाथा ११४) बंद हो जाती है।

मुमुक्षु: तो एक बात (कि) ध्येय और ज्ञेय का एक समय है ऐसा आपने फरमाया।

पू. लालचंदभाई: बराबर।

मुमुक्षु: तो क्या इसमें आप ऐसा कहना चाहते हैं कि निर्विकल्पनय और निर्विकल्पप्रमाण, दोनों अनुभव के समय एक साथ होते हैं?

पू. लालचंदभाई: एक साथ होते हैं, नयपूर्वक प्रमाण होता है। नय पहले समय में (हो और) प्रमाण दूसरे समय में (हो) ऐसा नहीं है। एक ज्ञान की पर्याय का, पंचाध्यायीकर्ता ने कहा कि, उसके (ज्ञान की पर्याय के) विषय-भेद से नाम-भेद पड़ जाता है। ज्ञान की पर्याय तो एक है (मगर) विषय-भेद से नाम-भेद पड़ जाता है।

मुमुक्षु: एक समय में ही विषय-भेद रहता है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! विषय-भेद, अपेक्षाकृत है। अंदर में कहाँ है विषय-भेद? उसको समझने के लिए जो ज्ञान की पर्याय का विषय सामान्य है उसका नाम निश्चय, और वो आनंद को जानता है तो व्यवहार, और दोनों को जानता है तो प्रमाण। ऐसे तीन विकल्प नहीं हैं (मगर तीन से) समझाया जाता है।

सैंकड़ों प्रश्न आ गए, सैंकड़ों प्रश्न। अभी प्रश्न नहीं भेजना ऐसी बात की। जिज्ञासा है न सबको। अच्छी बात है!

मुमुक्षु: आत्मा में स्याद्वाद का अभाव है ऐसा आपने प्रवचन में कहा था।

पू. लालचंदभाई: बराबर।

मुमुक्षु: परंतु हमे (पढ़ा है कि) एक गुण में दूसरे गुण का अभाव है। अतः आत्मा में ज्ञान

गुण का (भेद का) अभाव बताया, एक का दूसरे में रूप है (ऐसा बताया) तो आत्मा में स्याद्वाद का अभाव कैसे होगा?

पू. लालचंदभाई: स्याद्वाद का अभाव है तो भी निश्चयाभासपना आता नहीं है - ऐसा देवसेन आचार्य भगवान का नयचक्र के अंदर (पृष्ठ ३१-३२ में) पाठ है। उसका क्या अर्थ (है)? कि आत्मा शुद्ध ही है, कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध - ऐसा नहीं है आत्मा में स्याद्वाद। क्या कहा? कि आत्मा शुद्ध ही है; कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध, ये आत्मा में लागू नहीं पड़ता है, वो प्रमाणज्ञान का विषय हो गया। पर्याय शामिल हो गयी (उसमें)।

मुमुक्षु: प्रमाण का विषय भी तो आत्मा ही है ना?

पू. लालचंदभाई: पहले प्रमाण नहीं होता है, पहले नय होता है; नयपूर्वक प्रमाण होता है। पहले प्रमाण में आये सविकल्प में, बाद में निर्विकल्प होता है तब नय की उत्पत्ति होती है। मगर (पहले) नयपूर्वक प्रमाण होता है बाद में प्रमाणपूर्वक नय का व्यापार चालू होता है।

मुमुक्षु: कभी आप फरमाते हैं कि नय और प्रमाण एक साथ होता है, कभी फरमाते हैं कि पहले नय होता है फिर प्रमाण होता है; थोड़ा विशेष खुलासा करने की कृपा करें?

पू. लालचंदभाई: ऐसा है कि पहले सविकल्पप्रमाण के अंदर आया, पर से भिन्न पड़ गया कि मेरा आत्मा द्रव्य-पर्यायस्वरूप है। आत्मा भी चेतन और परिणाम में भी चेतना होती है, वो प्रमाण में आ गया। राग से भिन्न पड़ गया, ख़्याल रखना। राग प्रमाणज्ञान में, अंदर में नहीं आता है। उसको आगमप्रमाण में जाने दो अभी। जिसको राग चाहिए उसके खाते में डाल दो। अपने को तो राग नहीं चाहिए। ठीक है?

तो आत्मा चेतन और पर्याय में उसका उपयोग लक्षण चेतना, तो प्रमाण में आ गया। अभी सविकल्पप्रमाण, उसमें भेदज्ञान करना कि मैं सामान्य हूँ और विशेष नहीं हूँ। क्योंकि सामान्य नित्य अनंत गुणात्मक ध्रुव परमात्मा हूँ; और पर्याय, एक समय की पर्याय है वो नाशवान है इसलिए मेरे स्वभाव में उसका अभाव है। ऐसा स्वभाव का लक्ष करने से आत्मा का अनुभव होता है, तो वो नय हुआ, नय से, नय में उपादेयतत्त्व है न। प्रमाण में तो हेय-उपादेय होता है। नय में, शुद्धनय में उपादेय तत्त्व आता है, शुद्धनय का विषय। तो अनुभव हुआ तो आनंद आया, तो वो प्रमाण हो गया कि नहीं? ज्ञान ने प्रमाण को भी जाना न। द्रव्य को जाना और पर्याय को भी जाना। सम्यग्दर्शन की खबर कैसे पड़े? आनंद से खबर पड़ती है। निर्विकल्पध्यान में से बाहर आया, सम्यग्दर्शन हुआ तो खबर कैसे पड़े? आनंद आया उसको। तो आनंद को उसने जाना कि नहीं? निर्विकल्पध्यान में ही जानने में आ जाता है।

मुमुक्षु: ऐसा तो नहीं कि पहले सविकल्पप्रमाण होता है फिर नय होता है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! पहले शुरूआत में प्रमाण-नय-निक्षेप से समझाया जाता है। मगर अनुभव के काल में प्रमाण भी नहीं है, नय (की लक्ष्मी) अस्त हो जाती है (और) निक्षेप कहाँ चला जाता है मालूम होता नहीं है (समयसार कलश ९)। समझाने के लिए माध्यम हैं, प्रमाण-नय-निक्षेप से समझाया जाता है; तो शुरूआत में ऐसा ही होता है। मगर जब अंदर जाता है तो

प्रमाण का विकल्प, नय का विकल्प, निक्षेप का विकल्प नहीं होता है; वस्तु नयातीत है।

मुमुक्षु: अभी एक प्रश्न के उत्तर में आपने फरमाया (कि) निर्विकल्पनय और निर्विकल्पप्रमाण दोनों अनुभव के काल में उत्पन्न होते हैं।

पू. लालचंदभाई: होता है, हाँ बराबर।

मुमुक्षु: अभी (आप) कहते हैं कि प्रमाण नहीं होता है, नय कहाँ चला जाता है, मालूम नहीं पड़ता।

पू. लालचंदभाई: वो शुरूआत में अनुभव के पहले की बात, अभ्यास करे तब की बात है। अभ्यास होता है न शुरूआत में तो 'प्रमाण से मेरा क्या स्वरूप है? नय से मेरा क्या स्वरूप है?' समझे? ऐसा आता है शुरूआत में। प्रमाण में द्रव्य-पर्याय दो स्वरूप हैं मेरी अस्ति। नय एक में गौण और एक में मुख्य करे; एक हेय, एक उपादेय; वो नय का व्यापार है। विधि-निषेध नय में होता है; प्रमाण में विधि-निषेध नहीं होता।

मुमुक्षु: प्रवचनसार (गाथा २००) में आता है कि आत्मा में ज्ञेय इस प्रकार समा जाते हैं (जैसे) मानो उसमें कीलित हो गए हों, डूब गए हों, टंकोत्कीर्ण हो गए हों।

पू. लालचंदभाई: हाँ, डूब गए हों, बराबर है।

मुमुक्षु: और आप फरमाते हैं कि आत्मा ज्ञेय को नहीं जानता?

पू. लालचंदभाई: यानि ज्ञेय का लक्ष नहीं रहता है; ज्ञेय को नहीं जानता है यानि ज्ञेय का लक्ष छूट जाता है। ज्ञेय तो रहता है और ज्ञेय का प्रतिभास भी अंदर रहता है।

मुमुक्षु: अगर आप ऐसा कहें कि ज्ञेय का लक्ष किए बिना ही ज्ञेय को जानता है तो समस्या (का) समाधान हो जाएगा। आप तो कहते हैं कि ज्ञेय को जानते ही नहीं हैं?

पू. लालचंदभाई: ज्ञेय के लक्ष बिना ज्ञेय जानने में आते हैं, केवली भगवान को। और श्रुतज्ञानी जो है, अविरत सम्यग्दृष्टि, उसको भी राग जानने में आता है मगर राग का लक्ष नहीं है। लक्ष एक पर रहता है, लक्ष दो ऊपर नहीं रहता है।

मुमुक्षु: ये तो दो की बात हुई, केवली की और श्रुतज्ञानी की।

पू. लालचंदभाई: हाँ! एक ही बात है। उनका ही लक्ष आत्मा ऊपर है, मेंढक का, हिरण का लक्ष भी आत्मा पर है। ऐसा एक पाठ आया है, अभयकुमार, कि एक जयसेन आचार्य भगवान का समयसार है, उसका एक निर्जरा अधिकार (गाथा २२३) है (इन्द्रियज्ञान ज्ञाननहीं है, बोल २०८), तो मुनिराज जब आहार लेते हैं, पानी भी लेते हैं आहार के टाइम में और उनके अंदर पुण्य का भाव भी होता है, नीचे की भूमिका में पाप भी होता है। उसका चार भाव लेकर उन्होंने कहा (कि) दर्पण में आए हुए (प्रतिबिम्ब) के समान जानते हैं, प्रतिबिम्ब के समान जानते हैं। यानि आहार ऊपर लक्ष नहीं है मगर आहार को जानते हैं। जानते हों तो भी नहीं जानते हैं, देखें (तो) भी नहीं देखें। देखें परंतु नहीं देखते, बोलें तथापि नहीं बोलते, चलें तथापि नहीं चलते, तत्त्वस्थित अडोल (इष्टोपदेश गुजराती गाथा ४१)। ये इन्द्रियज्ञान से जो शोधन करते हैं तो वो मालूम नहीं होता है (क्योंकि) इन्द्रियज्ञान ज्ञेय है, ज्ञान ही नहीं है।

मुमुक्षु: इसका नाम इन्द्रियज्ञान तो है न साहब?

पू. लालचंदभाई: मोहराजा ने (वैसा) कहा है, सर्वज्ञ भगवान ने (तो) ज्ञेय (नाम) रखा है; नामनिक्षेप है, भावनिक्षेप नहीं है उसमें। (इन्द्रियज्ञान में) आत्मा जानने में नहीं आता है, अनुभव में नहीं आता है।

मुमुक्षु: इन्द्रियज्ञान आत्मा की पर्याय है कि पुद्गल की पर्याय है?

पू. लालचंदभाई: मूर्तिक है, ऐसा प्रवचनसार (इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है, बोल १९) में लिखा है; और अमितगति आचार्य ने पौद्गलिक कहा; और प्रवचनसार में कहा कि इन्द्रियज्ञान बँध का कारण है; और पंचाध्यायीकर्ता ने लिखा कि इन्द्रियज्ञान (जो) है (वो) पुराने कर्म का कार्य है और नए कर्म-बंध का कारण है। सब शास्त्र का आधार देता हूँ मैं। प्रवचनसार में लिखा आहाहा! कि पौद्गलिक है, ५८ गाथा है, ५८ गाथा। आहाहा! यह सांसारिक सुख भी मूर्तिक और (इंद्रिय)ज्ञान भी मूर्तिक (है)। और अमितगति आचार्य ने कहा पौद्गलिक है, आत्मीय नहीं है (योगसार प्राभृत, अमितगति आचार्य, चुलिक अधिकार गाथा ४८/५०४)। ये सब जो ठगाया जाता है न, वो इन्द्रियज्ञान से ठगाया जाता है। राग से तो छूट जाता है कभी; पुण्य-पाप बंध का कारण है, आस्रव तत्त्व है, जड़ है, अचेतन है, स्व-पर को नहीं जानता है इसके लिए तो बहुत न्याय भी हैं। मगर इन्द्रियज्ञान के विषय (का) निषेध करने के लिए बहुत कम (बात) है शास्त्र में।

मुमुक्षु: मोक्षमार्गप्रकाशक में तो टोडरमल जी ने लिखा है कि अज्ञानी को भी जो ज्ञान की धारा चलती है वो स्वभाव का अंश है।

पू. लालचंदभाई: वो अलग बात है।

मुमुक्षु: (वो) बंध का कारण नहीं है।

पू. लालचंदभाई: वो उपयोग है, बंध-मोक्ष का कारण नहीं है। बंध का भी कारण नहीं (है) और मोक्ष का भी कारण नहीं है, स्वभाव का अंश है, बराबर है! मगर जो इन्द्रियज्ञान की उपाधि गौण करो तो उपयोग है। इन्द्रियज्ञान की जो उपाधि (है) उसको गौण कर लो तो उपयोग ही रह गया। बस!

मुमुक्षु: उपयोग में और इन्द्रियज्ञान में क्या अंतर है? उपयोग ही तो इन्द्रियज्ञानरूप परिणमित होता है?

पू. लालचंदभाई: परंतु उपयोग का दुरुपयोग हुआ। कल कहा था उपयोग का दुरुपयोग उसका नाम इन्द्रियज्ञान और उपयोग का सदुपयोग उसका नाम अतीन्द्रियज्ञान, स्वभाव का अंश है, बराबर है!

मुमुक्षु: एक सामान्य का ज्ञान करना चाहिए, पर्याय का लक्ष छोड़ना चाहिए. तब ज्ञान में इन्द्रियज्ञान का विषय ... (जो) दिखाई देता है, अगर उसको भी गौण करके ज्ञान जाननरूप भासित होता है, क्या वही द्रव्यभाव है (या) कुछ और है? अगर और (है) तो कैसे अनुभव में आवे?

पू. लालचंदभाई: इन्द्रियज्ञान जो पर को प्रसिद्ध करता है न, अभी इन्द्रियज्ञान को ... भेद

करके मर्यादा में लाकर उपयोग को अभिमुख करो, मतिज्ञान (को) सन्मुख करो, बाद में श्रुतज्ञान को सन्मुख करो तो आत्मा का अनुभव हो जाता है। ऐसा (समयसार) कर्ता-कर्म अधिकार (गाथा १४४) में लिखा है।

मुमुक्षु: अभी केवली भगवान की बात आयी थी कि वो लोकालोक को व्यवहार से जानते हैं।

पू. लालचंदभाई: जानते हैं, बराबर है।

मुमुक्षु: परंतु केवली (के) केवलज्ञान को तो नय होते ही नहीं हैं; तो वहाँ व्यवहारनय से कैसे जाना?

पू. लालचंदभाई: नीचे का, नीचे (की भूमिका) का जीव नय लगाता है, वहाँ नय नहीं हैं। नीचे (की भूमिका) का जीव नय लगाकर समझने की कोशिश करता है।

मुमुक्षु: मतलब श्रुतज्ञानी जो हैं, श्रुतज्ञान में प्रगट होनेवाले नयों के द्वारा केवलज्ञानी की इस बात को, कि लोकालोक को जानता है (वह) व्यवहार कहा।

पू. लालचंदभाई: हाँ! हाँ! ऐसा साधक नय लगाकर समझाता है। ऐसा नियमसार में आया है कि कोई तत्त्वज्ञानी अनुभवी ऐसा कहे कि केवली भगवान लोकालोक को जानते नहीं है (गाथा १६६), तो क्या दोष है? कुंदकुंदाचार्य भगवान ने लिखा कि कोई तत्त्वज्ञानी, अनुभवी ऐसा कहे कि हमारे केवली भगवान लोकालोक को नहीं जानते हैं, तो क्या दोष है? कि कुछ दोष नहीं है क्योंकि वो निश्चयनय का कथन हो गया। और बाद में एक गाथा लिखी (है) कि हमारे केवली भगवान आत्मा को नहीं जानते हैं, लोकालोक को जानते हैं (गाथा १६९) तो कहो इसमें क्या दोष है? (कि) कुछ दोष नहीं है (क्योंकि) वो व्यवहारनय का कथन है; ये निश्चयनय का कथन है। ऐसा नय लगाने से समझ में आ जाता है।

मुमुक्षु: एक प्रश्न आया है कि क्या सम्यग्दृष्टि को जुआ खेलने का भाव आ सकता है? यदि नहीं तो पाँडवों ने जुआ क्यों खेला?

पू. लालचंदभाई: जुआ खेलने का भाव पहले तो पाप ही है, उसको आगे मत करो। कोई अपवादरूप घटना बन गई हो तो उसको आगे नहीं करना चाहिए। वो पाप का परिणाम है। ऐसी कलकत्ता में ऐसी घटना एक बन गई थी थोड़ी। समझे? गुरुदेव ने वो बात मेरे को कही थी कि धर्मराजा जुआ भी खेलते थे, पर (उनका) सम्यग्दर्शन गया नहीं। मगर उसको आगे करने जैसी चीज नहीं है। पाप के परिणाम को आगे नहीं करना चाहिए, कोई भी पाप का परिणाम। उस पाप के परिणाम को आगे नहीं करना चाहिए। ऐसा पाप का परिणाम हो तो भी सम्यग्दर्शन टिकता है - ऐसा पाप का परिणाम आगे करके, ऐसी बात नहीं करना चाहिए। नहितर वो स्वच्छनदी हो जाता है!

मुमुक्षु: पूछनेवाला क्या चाहता है? पूछनेवाला खुद खेलना चाहता है क्या?

पू. लालचंदभाई: वो तो वो जाने, मैं नहीं जानता।

मुमुक्षु: सिद्ध भगवान के सुख के संबंध में एक प्रश्न है। क्या सिद्ध अवस्था प्रारंभ होने के

बाद प्रत्येक समय आगे बढ़ने पर अनंत आनंद की अनुभूति अनंत गुणी होती है क्या? सिद्धों के सुख में भी अनंत ...

पू. लालचंदभाई: नहीं! बढ़ता नहीं है, बढ़ता नहीं है। आनंद प्रगट हो गया (तो) हो गया शत प्रतिशत। उसमें शुद्धि की वृद्धि, आनंद की वृद्धि नहीं होती है। साधक के अंदर आनंद की वृद्धि होती है। मगर पूर्ण होता है - कृत्कृत्य, तब कषायों का अभाव हो गया, पूर्ण वीतराग हो गया, पूर्ण आनंद हो गया (उसके) बाद में आनंद की वृद्धि नहीं होती है।

मुमुक्षु: वो उतना का उतना आनंद रहता होगा तो क्या मजा आता होगा? उतना का ही उतना आनंद रहता होगा तो क्या मजा आता होगा?

पू. लालचंदभाई: आप रोज रोटी क्यों खाते हो?

मुमुक्षु: श्रद्धान के संबंध में एक प्रश्न है कि आत्मा में पर्याय से भिन्न द्रव्य का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन कहा है।

पू. लालचंदभाई: बराबर।

मुमुक्षु: जबकि तत्त्वार्थसूत्र में सात-तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

पू. लालचंदभाई: बराबर।

मुमुक्षु: परंतु ये तो पर्यायरूप हैं। और समयसार में अभूतार्थ कहा है, अतः इसका अभेदरूप श्रद्धान सम्यग्दर्शन कैसे होता है? जबकि सामान्य जीवतत्त्व तो भिन्न है। कृप्या स्पष्ट करें कि असल में सात-तत्त्व का श्रद्धान सम्यक्त्व है या अकेला पर्याय से भिन्न आत्मा का श्रद्धान सम्यक्त्व है?

पू. लालचंदभाई: देखो! पहले तो पर्याय से भिन्न आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। दूसरी बात (यह है) कि जो तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय १, सूत्र १) में आया है (कि) सात-तत्त्व का श्रद्धान वो सम्यग्दर्शन है, बराबर है। क्योंकि उसमें एकवचन लगाया है बाद में। तो एकवचन में उसके अंदर शुद्धात्मा गर्भित है, वो दृष्टि में आ जाता है। तो सम्यग्दर्शन का जो निमित्तकारण है सात-तत्त्व, नौ पदार्थ, वो निमित्त की प्रधानता से ऐसा कहा जाता है कि सात-तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। मगर उसमें, वो समयसार में (और) तत्त्वार्थसूत्र में कोई विरोध नहीं है। आत्मा का ही अनुभव उसमें होता है।

दूसरी एक बात है most important (सबसे महत्वपूर्ण) बताता हूँ आपको। आपने तो तत्त्वार्थसूत्र के साथ वो बात बतायी, मगर समयसार की ११वीं गाथा में तो ऐसा है कि भूतार्थनय से जानो आत्मा को, व्यवहारनय सम्पूर्ण अभूतार्थ है, भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन हो जाता है, ११वीं गाथा है न। तो वो त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, पर्याय से भिन्न। व्यवहार अभूतार्थ यानि पर्याय है मगर पर्याय द्रव्य में नहीं है। ऐसी भूल नहीं करना कि पर्याय को उड़ा देते हैं ज्ञानी। पर्याय द्रव्य में नहीं है; सामान्य में विशेष की नास्ति है, ऐसी अस्ति है। इसका लक्ष करने से अनुभव होता है। वहाँ तो त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से अनुभव करने की बात है न, सम्यग्दर्शन, एक बात।

और (समयसार) १३वीं गाथा में तो कहा (है) कि भूतार्थनय से नवतत्त्व जाना हुआ सम्यक्त्व है। तो नवतत्त्व तो व्यवहारनय का विषय है। नवतत्त्व जो भेद है पर्याय का, वो तो व्यवहारनय का विषय है। तो क्या उसका आश्रय करने का बोध है? नहीं! आगे लगाया है भूतार्थनय से। भूतार्थनय से अर्थ क्या है? कि अभूतार्थनय से तो सभी नौ तत्त्वों को जानते हैं, वह तो मिथ्यात्व है। अभूतार्थनय से नवतत्त्व को जानता है यानि आत्मा बंध का ही कर्ता है और मोक्षमार्ग का ही कर्ता है और मोक्ष का कर्ता है, वह अभूतार्थनय का कथन है। भूतार्थनय से तो नौ जो तत्त्व हैं वो निरपेक्ष हैं। आत्मा उपादानपने भी कर्ता नहीं है और निमित्तकर्ता भी नहीं है। वो स्वयं एक समय की पर्याय सत्-अहेतुक क्षणिक-उपादान है। और निमित्तकारण पुराने कर्म का उदय-अनुदय दो ले लेना, निमित्तकारण। तो ऐसे जो जीव जानता है कि पर्याय सत्-अहेतुक है, होने योग्य होती है पर्याय, तो उसकी दृष्टि अकर्ता (के) ऊपर आ जाती है; कर्ताबुद्धि छूट जाती है। तो वहाँ भी सम्यग्दर्शन हो जाता है नियम से, ऐसा लिखा (है)। कोष्ठक में नियम लिखा।

भूतार्थनय से नवतत्त्व जाना हुआ सम्यग्दर्शन है। ऐसा फूलचंद जी सिद्धांत शास्त्री को हमने पूछा था गुवाहाटी में। जब गुरुदेव गुवाहाटी में गए तब मैं गया था। तब पंडितजी को पूछा कि 'पंडितजी! ये भूतार्थनय से नवतत्त्व जाना हुआ सम्यक्त्व है, ऐसा कहीं अलग (दूसरी) जगह तो आता नहीं है, एक ही जगह पर है १३वीं गाथा में?'। (पंडितजी): 'हाँ! वो बात सच्ची है एक ही जगह पर है'। सबसे महत्वपूर्ण बात है वो। उसमें ११वीं गाथा में पर्याय से भिन्न कहा द्रव्य का अवलंबन कर। और पर्याय सत्-अहेतुक है (उसका) तू कर्ता नहीं है, अकर्ता है - ऐसे होकर सम्यग्दर्शन हो जाता है। अभूतार्थनय से तो अनंतकाल से जाना कि आत्मा पुण्य-पाप का कर्ता है, आत्मा आस्रव का कर्ता है, संवर का कर्ता है, निर्जरा का कर्ता है, बंध का कर्ता है, मोक्ष का कर्ता है; वो अभूतार्थ, व्यवहारनय का कथन है। पर्याय का कर्ता आत्मा है ही नहीं निश्चयनय से तो। पर्याय का कर्ता पर्याय है, सत्-अहेतुक (है)। ऐसे जो जाने पर्याय को सत्-अहेतुक तो कर्ताबुद्धि छूट जाती है और कर्ताबुद्धि छूटने से अकर्ता पर दृष्टि आती है, अनुभव हो जाता है। तो नवतत्त्व को जाना हुआ सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

मुमुक्षु: सम्यग्दर्शन फिर ११वीं गाथा के हिसाब से होगा कि १३वीं गाथा के हिसाब से होगा कि दोनों के हिसाब से होगा?

पू. लालचंदभाई: आत्मा के आश्रय से होगा।

मुमुक्षु: दोनों गाथाओं में अलग-अलग बात कही है?

पू. लालचंदभाई: नहीं! अलग-अलग नहीं है। अलग-अलग नहीं है, आत्मा का ही आश्रय आया। नौ को सत् जाना वो वहाँ ठहरता नहीं है, होने योग्य होता है तो मैं करनेवाला नहीं हूँ, मैं (तो) अकर्ता ज्ञायक हूँ - ऐसे ज्ञायक पर दृष्टि आ गयी।

मुमुक्षु: दृष्टि का विषय अखंड है और अखंड द्रव्य-गुण-पर्याय का समूह आत्मा अभेद होने से अखंड होगा। मात्र ध्रुव स्वभाव तो वस्तु का एक अंश है। उसको दृष्टि का विषय कहा

गया है तो फिर दृष्टि का विषय अखंड कैसे होगा, वो तो खंड हो गया?

पू. लालचंदभाई: अनंतगुण से अखंड है अभेद, वो दृष्टि का विषय है; उसमें पर्याय शामिल नहीं होती है। ध्रुव, ध्रुव, अखंड, वो भी अखंड है; अनंतगुण से अभेद-अखंड है। उसमें गुण-भेद नहीं है इसलिए खंड उसमें नहीं है, अखंड है। और जब ज्ञेय होता है तब पर्याय से अनन्य होता है, वो भी अखंड हो गया। परिशिष्ट में अखंड ही हो गया (ऐसा) अर्थ किया। अखंड की दो व्याख्या आती हैं; एक पर्याय से रहित अनंतगुणात्मक अखंड, ध्रुव, परमात्मा उसका आश्रय करो; और एक पर्याय से अभेद हुआ वो भी अखंड है।

मुमुक्षु: जैसे अनंत गुणों से अखंड है वैसे अनंत पर्यायों से भी तो अखंड है। तो उसको क्यों...

पू. लालचंदभाई: वो पदार्थ है। वो पदार्थ की सिद्धि में **गुणपर्ययवत् द्रव्यं** (कहा)। पर्याय के बिना द्रव्य नहीं है, द्रव्य के बिना पर्याय नहीं (है), परस्पर सापेक्ष पदार्थ (है), उसमें भी पदार्थ की सिद्धि होती है, मगर प्रयोजन की सिद्धि उसमें नहीं होती है। पंडित बनता है, मगर ज्ञानी बनता नहीं है। पंडित की टीका नहीं मैं करता हूँ! कोई पंडित की टीका की बात, टीका की बात इधर है ही नहीं, मना है सख्त। मगर वो द्रव्य-गुण-पर्याय, **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** जो पदार्थ है, पदार्थ की सिद्धि, वो परपदार्थ से जुदा (भिन्न) करता है। और नय (में) अपनी पर्याय से जुदा करके त्रिकाली द्रव्य का अवलम्बन लेता है।

मुमुक्षु: द्रव्य शुद्ध, निर्मल, अविकारी है तो इसमें से जो पर्यायें निकलती हैं वो अशुद्ध कैसे होती हैं? शुद्ध द्रव्य में से अशुद्ध पर्यायें कैसे निकलती हैं?

पू. लालचंदभाई: शुद्ध द्रव्य में से अशुद्ध पर्याय निकलती ही नहीं है पहले तो। शुद्ध में से अशुद्ध निकलती ही नहीं है। जब पर्याय निकलती है तब उसका मुख स्व-तरफ है कि पर-तरफ? जो पर-तरफ है तो अशुद्ध बन जाती है; (और अगर) स्व-तरफ मुख है, तो शुद्ध रहती है।

मुमुक्षु: पर्याय के निकलने के बाद में फिर वो स्व की या पर की?

पू. लालचंदभाई: हाँ पर्याय। एक ही समय में, समय एक है उसमें। पहले समय में शुद्ध निकले, दूसरे समय में अशुद्ध निकले - ऐसा नहीं (है)। पर्याय का उत्पाद है, उसका मुख उत्पाद के समय स्व-सन्मुख होता (है) कि पर-सन्मुख? बस! उसके ऊपर शुद्ध-अशुद्ध का आधार है। शुद्ध-अशुद्ध वो भी उपाधि है; उत्पाद-व्यय तो स्वभाव है पर्याय का।

मुमुक्षु: ध्रुव सामान्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों बनेंगे क्या?

पू. लालचंदभाई: सामान्य में नहीं, सामान्य में तो अकेला गुण हैं। सामान्य-विशेष कहो (तो) **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** आ गया, सामान्य-विशेष दो।

मुमुक्षु: एक भाई ने पूछा है कि साधक अर्थात् मिथ्यात्व की भूमिका में ऐसा कौनसा व्यवहार उचित है जो सम्यग्दर्शन में सहायक होवे?

पू. लालचंदभाई: भेदज्ञान! शुभभाव करना सहायक नहीं है, वो तो मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता

है।

मुमुक्षु: भेदज्ञान तो निश्चय की बात है?

पू. लालचंदभाई: निश्चय की बात ही सच्ची है! निश्चय की बात सच्ची है। पूर्व भूमिका बताई न? पात्रता। सम्यग्दर्शन के लिए पात्र कौन है? मोक्षमार्गप्रकाशक (अधिकार ७, सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि, पृष्ठ २६०) में लिखा है कि बारंबार तत्त्व का विचार करे यानि भेदज्ञान करे, वो व्यवहार है। भेदज्ञान का जो विचार है न, वो व्यवहार है। ये मैं स्व हूँ और ये मैं पर नहीं हूँ (ऐसा) विधि-निषेध का विकल्प आया न। मैं ऐसा हूँ और ऐसा नहीं हूँ, मैं शुद्ध हूँ और अशुद्ध नहीं हूँ, मैं अकर्ता हूँ और कर्ता नहीं हूँ, दो के बीच में भेदज्ञान का विचार आया न, उसमें मिथ्यात्व गलता है और शुभभाव करने से मिथ्यात्व बढ़ जाता है। लोगों को यह प्रिय लगता है, शुभभाव। हाँ! ये ठीक है। शुभभाव तो करना चाहिए तो पात्रता है। (अरे!) अपात्रता है! शुभभाव से पुण्य बंधता है जरूर, मगर साथ-साथ में कर्ताबुद्धि है इसलिए मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है। भेदज्ञान नहीं है उसमें। कर्ता में कहाँ भेदज्ञान रहा? शुभभाव करने जैसा है ऐसा जो अभिप्राय है वो तो अज्ञान है, अप्रतिबुद्ध का लक्षण है। भेदज्ञान। शुभभाव आता है जरूर।

एक प्रश्न आया गुरुदेव के पास कि साहब! आप फरमाते हैं कि आत्मा के अनुभव से सम्यग्दर्शन, धर्म की शुरूआत होती है। वहाँ तक तो हम पहुँचते नहीं (हैं)। अनुभव तक तो हम पहुँचते नहीं हैं और पाप तो करना नहीं है हमको। बाकी बचा पुण्य, तो पुण्यभाव करना कि नहीं करना? करना कि नहीं करना? तो दो में से एक उत्तर आएगा ऐसा प्रश्नकार का विचार था। मगर (गुरुदेव ने) दो में से एक भी जवाब नहीं दिया। क्या जवाब दिया? कि जब पुण्यभाव आये, शुभभाव, तब उससे आत्मा भिन्न है, जुदा है - ऐसा बार-बार विचार करना। पुण्य करना ऐसा भी नहीं कहा (और) नहीं करना ऐसा भी नहीं कहा। नहीं करना, ऐसा कहा नहीं बिल्कुल।

मुमुक्षु: क्यों नहीं कहा?

पू. लालचंदभाई: उसके कालक्रम में शुभभाव आता है। करने की बात नहीं है, नहीं करने की बात भी नहीं है; उसके कालक्रम में आवे (ही आवे)। नहीं करना क्या? नहीं करना वो भी कर्ताबुद्धि (और) करना वो भी कर्ताबुद्धि है। आता है, उससे आत्मा भिन्न है ऐसा बार-बार विचार करना। भेदज्ञान का विचार वो पूर्व भूमिका है, पात्रता। सम्यग्दर्शन की पात्रता (तो) वो है।

मुमुक्षु: जब आता ही है तो फिर 'करना' ऐसा कहने में क्या दिक्कत है? आएगा तो 'करना है' ऐसा कहने में क्या दिक्कत है?

पू. लालचंदभाई: मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है, एकत्वबुद्धि हो जाती है, उसका स्वामी बन जाता है। स्व-स्वामी संबंध, आहाहा! बन गया, ममत्व हो गया शुभभाव से। वीतरागमार्ग में ममत्व करने की सख्त मनाही है। आहाहा!

मुमुक्षु: आप कहते हैं कि शुभभाव से मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है।

पू. लालचंदभाई: कर्ताबुद्धि से मिथ्यात्व (दृढ़ होता है), शुभभाव से नहीं। शुभभाव तो,

पाँच महाव्रत के परिणाम शुभभाव (तो) होता है ज्ञानी को (भी)। शुभभाव मिथ्यात्व नहीं है भैया! (नहीं) तो गड़बड़ होगी! अब तो साधक को भी शुभभाव होता है। मगर शुभभाव में ममत्व, एकत्व, कर्तृत्व वो मिथ्यात्व है, भैया।

मुमुक्षु: जीवन में चरणानुयोग ओर द्रव्यानुयोग का सुमेल किसप्रकार होवे?

पू. लालचंदभाई: भेदज्ञान से हो जाता है। भेदज्ञान से सुमेल हो जाता है। सुमेल करना हो (तो) भेदज्ञान करो, राग से भिन्न आत्मा को जानो, बस। वो द्रव्यानुयोग (और) चरणानुयोग; यानि सम्यग्दर्शन का आचरण, वह चरणानुयोग है। स्वरूपाचरण चारित्र वो भी आचरण (अर्थात्) चारित्र है, ऐसा आ जाता है।

मुमुक्षु: भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन ये सब बातें तो द्रव्यानयोग की हुईं। चरणानुयोग का क्या आया इसमें?

पू. लालचंदभाई: चरणानुयोग का है (कि) जैसा भाव आता है उसको जानना। स्थिति अनुसार जो शुभाशुभभाव है उसको जानना, बस। जानना वो चरणानुयोग है; शुभभाव करने का चरणानुयोग में नहीं है। परस्पर विरुद्ध बात होती नहीं हैं जिनागम में। हाँ! कोई ऐसा जीव पाप के रास्ते चढ़ गया हो तो उपदेश-बोध देते हैं (कि) पाप छोड़ और पुण्य कर, ऐसा कहें। कोई (अगर) दूसरी जगह पर जाता है (अन्य) मंदिर में तो (उसको कहें कि) अरे! (जिनेन्द्र) भगवान का दर्शन कर, तेरे को धर्म होगा।

मुमुक्षु: स्वार्थ-प्रमाण और परार्थ-प्रमाण?

पू. लालचंदभाई: स्वार्थ-प्रमाण और परार्थ-प्रमाण, अच्छा! स्वार्थ-प्रमाण में अंदर में अपने धर्मों को जानना, वो प्रमाण है। परार्थ में बाहर में स्व और पर आ गए। अंदर में अपने गुण और अपना धर्म और अपनी पर्याय, वो स्वार्थ में आता है और वो अध्यात्मप्रमाण है। बाहर का परार्थ-प्रमाण है, आत्मा को भी जाने, लोकालोक को भी जाने, पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को (जाने), ऐसा (परार्थ-प्रमाण है)।

मुमुक्षु: उसी के उपरांत इसमें दूसरा प्रश्न है कि नयों का भेद स्वार्थ-प्रमाण में होता है कि परार्थ-प्रमाण में? नय स्वार्थ-प्रमाण में लागू पड़ता है कि परार्थ-प्रमाण में?

पू. लालचंदभाई: नय तो दोनों में लागू पड़ता है।

मुमुक्षु: दोनों में किस तरह लागू पड़ता है?

पू. लालचंदभाई: अंदर का स्वपरप्रकाशक और बाहर का स्वपरप्रकाशक। अंदर के स्वप्रकाशक में अपना द्रव्य, अपना गुण और अपनी पर्याय - अंदर की बात। और बाहर में, प्रमाण से बाहर लोकालोक भी जानने में आता है - ऐसा।

मुमुक्षु: लोकालोक को जानना यह भी प्रमाण में आ जाएगा क्या?

पू. लालचंदभाई: हाँ! प्रमाण में आ जाता है। जणित (जानने में आ) जाता है तो जानता है, ऐसा कहा जाता है। यह ख़्याल रखना। निश्चय जो ख़्याल में से छूट गया तो लक्ष लोकालोक पर चला जाएगा। पर (के) ऊपर चला जाएगा तो नय प्रगट नहीं होगा। स्वपरप्रकाशक भी प्रगट

नहीं होगा। स्वप्रकाशक होगा, नंबर एक, तो अंदर का स्वपरप्रकाशक (अर्थात्) निश्चय प्रगट होता है। और अंदर का स्वपरप्रकाशक होता है तो बाहर का भी स्वपरप्रकाशक होता है। ऐसी तीन बातें ज्ञानी के ज्ञान में आती हैं।

मुमुक्षु: अंदर का स्वपरप्रकाशक और बाहर का स्वपरप्रकाशक, ये क्या चीज़ है?

पू. लालचंदभाई: अंदर का स्वपरप्रकाशक का ऐसा विषय है कि अपना आत्मा ज्ञायक भी जानने में आवे और आनंद आदि जो परिणाम प्रगट हों वो भी जानने में आवें। तो जब ज्ञान अपेक्षा से देखो तो ज्ञान ने ज्ञान को भी जाना और ज्ञान ने आनंद आदि परिणाम जो प्रगट हुए अनुभव के काल में, उनको भी जाना; तो ज्ञान स्व है और आनंद पर है तो ऐसा स्वपरप्रकाशक अनुभूति के काल में प्रगट होता है। निश्चय स्वपरप्रकाशक कहा जाता है। और (जब) वो सविकल्पदशा में आता है साधक, तो आत्मा भी जानने में आता है (और) देव-गुरु-शास्त्र सब लोकालोक भी जानने में आते हैं; वो भी स्वपरप्रकाशक है। एक निश्चय (स्वपरप्रकाशक और) दूसरा व्यवहार (स्वपरप्रकाशक)। निश्चय क्या? कि पर की अपेक्षा नहीं है इसलिए स्वपरप्रकाशक निश्चय; (और) बाहर की, पर की अपेक्षा आती है तो वो परप्रकाशक (इसलिए) स्वपरप्रकाशक व्यवहार हो गया। एक निश्चय (और) दूसरा व्यवहार, ऐसा हो जाता है।

मुमुक्षु: व्यवहार स्वपरप्रकाशक से तो ये सिद्ध हो गया कि आत्मा पर को जानता है। नहीं तो व्यवहार स्वपरप्रकाशक कैसे कहें?

पू. लालचंदभाई: परपदार्थ जणित (जानने में आ) जाता है, दर्पण में आए हुए प्रतिभास के समान, तो कहा जाता है कि पर को जानता है। ऐसा, प्रवचनसार (गाथा २६) में ऐसी बात आयी है कि जो परपदार्थ ज्ञेय है, वो निमित्तभूत ज्ञेयाकार ज्ञान है और वो (जो) ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उनका नाम नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार ज्ञान है। तो नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार, ज्ञान का प्रतिभास तो ज्ञान की पर्याय है। उसको जाना तो कार्य में कारण का आरोप देकर लोकालोक को जानता है, ऐसा कहा जाता है।

मुमुक्षु: ये निमित्तभूत ज्ञेयाकार और नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार इन दोनों का थोड़ा विशेष खुलासा करें।

पू. लालचंदभाई: नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार तो जैसे दर्पण, दर्पण का दृष्टांत लो तो ख़्याल में आवे। जब दर्पण में प्रतिभास के अंदर अग्नि हो, बर्फ़ हो, मोर हो, कोई भी पदार्थ हो तो वो निमित्तभूत ज्ञेयाकार है, निमित्तभूत। 'निमित्तभूत ज्ञेयाकार' ज्ञान से भिन्न है, वो निमित्त में चला गया। और ये जो इसका प्रतिभास हुआ इसका नाम 'नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार' ज्ञान है। वो बात तो ठीक है, सब (कुछ) आत्मा में ही है। तो उस कार्य के अंदर कारण का उपचार देकर लोकालोक को जानता है ऐसा कहा जाता है। जानता है तो अपनी पर्याय को।

मुमुक्षु: तो बाहर का जो मोर है वो निमित्तभूत ज्ञेयाकार?

पू. लालचंदभाई: निमित्तभूत मोर है।

मुमुक्षु: अंदर का जो प्रतिबिम्ब है वो नैमित्तिक(भूत) ज्ञेयाकार (है)?

पू. लालचंदभाई: हाँ! (नैमित्तिकभूत) ज्ञेयाकार है। जैसी स्वच्छता है न दर्पण में, ऐसी आत्मा में ज्ञान के अंदर स्वच्छता है तो प्रतिभास होता है।

मुमुक्षु: क्या ज्ञेय पदार्थों को निमित्तभूत ज्ञेयाकार कहते हैं?

पू. लालचंदभाई: हाँ! ज्ञेय पदार्थों को (कहते हैं)। अपना आत्मा भी ज्ञेय और अपनी आत्मा के अलावा जो आत्मा से भिन्न हैं, वो ज्ञेयाकार हैं, वो ज्ञेय हैं, निमित्तभूत ज्ञेय हैं। ये (पुस्तक) निमित्तभूत ज्ञेय है और इसकी झलक अंदर (ज्ञान) में आयी तो नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार ज्ञान हो गया। वो (पुस्तक) निमित्त और ये (झलक अंदर) नैमित्तिक, ऐसा।

डॉक्टर हुकुमचंद जी भारिल्ल: ज्ञेयरूप।

पू. लालचंदभाई: ज्ञेयरूप! ये प्रवचनसार शास्त्र है न देखो! मँगवाओ जरा। अभी प्रवचनसार इधर लाओ।

मुमुक्षु: आज सुबह के प्रवचन में भी इस प्रकार की बात आयी थी कि निमित्त को भी नहीं जानता, नैमित्तिक को भी नहीं जानता, क्षणिक-उपादान को जानता है, तो उससे अभेद त्रिकाली-उपादान को जान लेता है। इस बात का जरा विशेष खुलासा करने की कृपा करें।

(प्रवचनसार शास्त्र आया।)

पू. लालचंदभाई: हाँ, ठीक! ३१ गाथा है। **यदि समस्त स्व-ज्ञेयाकारोंके समर्पण द्वारा (ज्ञानमें) अवतरित होते हुए समस्त पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित न हों तो**, ज्ञान में आता नहीं है, प्रतिभास तो होता है। **प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जाता**, यानि प्रतिभास तो होता है। **और यदि वह (ज्ञान) सर्वगत माना जाये, तो फिर (पदार्थ) साक्षात् ज्ञानदर्पण-भूमिकामें अवतरित [1]बिम्बकी भाँति अपने-अपने ज्ञेयाकारोंके कारण (होनेसे)**, अपने-अपने, वो कारण-कार्य उसमें है ज्ञेय का। **अपने-अपने ज्ञेयाकारोंके कारण (होनेसे) और [2]परम्परासे प्रतिबिम्बके समान ज्ञेयाकारोंके कारणहोनेसे पदार्थ कैसे ज्ञानस्थित निश्चित् नहीं होते? (अवश्य ही ज्ञानस्थित निश्चित होते हैं)।**

उसमें एक नीचे फूटनोट है। **२. पदार्थ साक्षात् स्वज्ञेयाकारोंके कारण हैं (अर्थात् पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्यायोंके साक्षात्कारण हैं)** बाहर, **और परम्परासे ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकारोंके (ज्ञानाकारोंके) कारण हैं।** (फुटनोट) **३. प्रतिबिम्ब नैमित्तिक कार्य हैं और मयूरादि निमित्त-कारण हैं।** एक निमित्त और इधर स्वच्छता दिखती है न। गुजराती में बहुत, भावार्थ में बहुत लिखा है। इसमें भावार्थ बड़ा है।

भावार्थ:- दर्पणमें दर्पण का दृष्टांत बहुत अच्छा है। **दर्पणमें मयूर, मन्दिर, सूर्य, वृक्ष इत्यादिके प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। वहाँ निश्चयसे तो प्रतिबिम्ब दर्पणकी ही अवस्थायें हैं, तथापि दर्पणमें प्रतिबिम्ब देखकर [3]कार्य में कारण का उपचार करके व्यवहारसे कहा जाता है कि 'मयूरादिक दर्पणमें हैं।' इसीप्रकार ज्ञानदर्पणमें भी सर्व पदार्थोंके समस्त ज्ञेयाकारोंके प्रतिबिम्ब पड़ते हैं**। ज्ञेय नहीं आता है ज्ञान में, प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। **अर्थात् पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके निमित्तसे ज्ञानमें ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं (क्योंकि**

यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्व पदार्थोंको नहीं जान सकेगा)। वहाँ निश्चयसे ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकार ज्ञानकी ही अवस्थायें है, पदार्थोंके ज्ञेयाकार कहीं ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं है। निश्चयसे ऐसा होने पर भी व्यवहारसे देखा जाये तो, ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकारोंके कारण पदार्थोंके ज्ञेयाकार हैं, और उनके कारण पदार्थ हैं - इसप्रकार परम्परासे ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकारोंके कारण पदार्थ हैं; इसलिये उन (ज्ञानकी अवस्थारूप) ज्ञेयाकारोंको ज्ञानमें देखकर, कार्यमें कारणका उपचार करके व्यवहारसे ऐसा कहा जा सकता है कि 'पदार्थ ज्ञानमें हैं'॥३१॥ राग निमित्त है, राग ज्ञान में आ गया ऐसा कहने में आता है।

अभी पहला प्रश्न हो गया। बहुत बढ़िया!

मुमुक्षु: ज्ञान पदार्थों को जानता है और पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, इन दोनों बातों में क्या अंतर है?

पू. लालचंदभाई: बड़ा, बड़ा भारी फेर (फर्क़) है उसमें। मैं ज्ञेय को जानता हूँ (ये) एक बात और ज्ञेय मेरे ज्ञान में जणित (जानने में आ) जाता है, उसमें बहुत अंतर है। ज्ञेय को मैं जानता हूँ तो लक्ष ज्ञेय पर चला जाता है; और ज्ञेय मेरे ज्ञान में झलकता है तो ज्ञान आत्मा पर आ जाता है, पर का लक्ष नहीं होता है।

मुमुक्षु: साहब! बात तो दोनों में एक ही हुई न? ज्ञान में पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है इसी को जानना कह दें या इसी को ज्ञेयों का प्रतिभास होता है ऐसा कह दें?

पू. लालचंदभाई: परंतु जानता किसको है? ज्ञेय को या ज्ञेयाकार ज्ञान को या ज्ञानाकार ज्ञान को? ज्ञान किसको जानता है? इसको (कागज़) ज्ञान जानता है या वो प्रतिभास उसमें (ज्ञान में) हुआ - ऐसे ज्ञेयाकार ज्ञान को जानता है?

मुमुक्षु: प्रतिभास ज्ञान में हुआ यही तो उसका जानना है?

पू. लालचंदभाई: तो वो जानना है तो ज्ञान जाना न? ज्ञान को, प्रतिभास को ज्ञान ने जाना न? या इसको (कागज़ को) जाना? इसको (कागज़) वहाँ रखा है, (जानना अंदर) इधर-इधर है, लोकालोक इधर प्रतिभासित होते हैं तो केवली भगवान ऐसा-ऐसा (परसन्मुखता) करते हैं (क्या)? नहीं करते हैं! इन्द्रियज्ञान से जो अभ्यास है, उस इन्द्रियज्ञान से यदि खोज करे तो वो ख़्याल में नहीं आएगा। इन्द्रियज्ञान के अलावा एक अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है साधक को। उस ज्ञान की ताकत कोई अपूर्व है, वो ही ज्ञान है। इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है, ज्ञेय है भैया।

मुमुक्षु: अतीन्द्रियज्ञान अपनी ज्ञान पर्याय को जानता है?

पू. लालचंदभाई: जानता है।

मुमुक्षु: और इन्द्रियज्ञान पर को जानता है?

पू. लालचंदभाई: हाँ! ऐसा है, ऐसा आया है। ऐसा कहाँ आया है? एक अमितगति आचार्य का योगसार है, उसमें अंतिम चूलिका अधिकार है, उस चूलिका अधिकार (गाथा ४८) में आचार्य भगवान ने लिखा, most important (सबसे महत्वपूर्ण) बात है कि पदार्थ दो हैं, देह और आत्मा - पदार्थ दो हैं। दो को जाननेवाला दो प्रकार का ज्ञान होता है; इन्द्रियज्ञान देह को

जानता है और स्वसंवेदन ज्ञान आत्मा को जानता है। ऐसे दो भाग कर दिए। और दो की ही दो बात निश्चय से है और निश्चय की बात पहले समझनी चाहिए, उसमें भेदज्ञान है। इन्द्रियज्ञान पर को जानता है, अतीन्द्रियज्ञान स्व को जानता है ऐसा वहाँ लिखा है। साफ शब्दों में लिखा है, अमितगति आचार्य का योगसार है।

कल लाना इधर दोपहर में, इधर रखना योगसार अमितगति आचार्य का। इधर होगा, होगा ही होगा - अमितगति आचार्य का योगसार। उसमें लिखा है और वो बात समयसार में है, वो बात समयसार में भी है। समयसार तो इधर आ गया है। हाँ जी! समयसार है। उसकी दस (३७३-३८२) गाथायें हैं, दस। कर्णेंद्रिय शब्द को जानती है और शब्द ऐसा नहीं कहता है कि तू हमको जान; और आत्मा अपने को जानना छोड़कर वो शब्द को जानने जाता ही नहीं है! दस गाथायें हैं, दस।

डॉक्टर हुकुमचंद जी भारिल्ल: .. कर्ताबुद्धि .. ज्ञाताबुद्धि ..

पू. लालचंदभाई: हाँ! मार्मिक तो वो बात है (कि) वो तो नहीं कहता है कि तू सुन (ऐसा) वो तो नहीं कहता है। और उसको जाननेवाली कर्णेंद्रिय आती है, पाँच इंद्रिय। समझे? रसेंद्रिय आदि उसको जाननेवाला वो है। मगर उसको वो (इन्द्रियज्ञान) जाननेवाला है और आत्मा भी उसको जानने को जावे, ऐसा नहीं है।

यह जो स्वपरप्रकाशक का अंदर में थोड़ा व्यवहार का ज्यादा पक्ष होवे तो वो ख़्याल में नहीं आवे। निश्चय की बात पहले समझनी चाहिए! निश्चयपूर्वक व्यवहार होता है। व्यवहार नहीं है ऐसा नहीं है, मगर निश्चय की बात होना चाहिए (उसको) पहले समझना चाहिए। दस गाथायें हैं। देखो! मैं मूल गाथा आपको बताऊँ। क्योंकि थोड़े दिन हैं न, तो मूल-मूल बात कह देने से सबको ख़्याल में आ जावे। आहाहा!

इन्द्रियज्ञान को ज्ञान माना है, अज्ञान है, ज्ञान ही नहीं है (वो तो) ज्ञेय है; मोहराजा ने ज्ञान (नाम) रखा, मोही जीव ने (वैसा) मान लिया। ज्ञानी (वैसा) नहीं मानता है। ३७३ गाथा है, ३७३ से ३८२ गाथा हैं, दस गाथा। समयसार में माल भरा है, सब समयसार में से निकला है, मूल तो समयसार है। आहाहा! जिनेंद्र भगवान का मार्ग सुरक्षित हो गया समयसार में, बहुत आचार्यों ने रखा है सुरक्षित; (मगर) मुख्यरूप से समयसार की प्रधानता है अभी। आहाहा! अच्छा!

देखो मैं तीसरी (३७५) गाथा पढ़ता हूँ। **अशुभ अथवा शुभ शब्द तुझसे यह नहीं कहता कि 'तू मुझे सुन';** शब्द। **और आत्मा भी** वो बात main (मुख्य) है, **आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), श्रोत्रेन्द्रियके विषयमें आये हुए शब्दको**, शब्द कहाँ तक आता है? श्रोतेन्द्रिय तक आता है, अतींद्रिय तक पहुँचता ही नहीं है; not allowed (प्रवेश वर्जित)। **श्रोत्रेन्द्रियके विषयमें आये हुए शब्दको ग्रहण करनेको** यानि **(जाननेको) नहीं जाता।** शब्द आया तो श्रोतेन्द्रिय ने जान लिया, पकड़ लिया। तो आचार्य भगवान कहते हैं, फरमाते हैं कि ऐसी स्थिति बाहर में है। शब्द भी हैं, शब्द को प्रसिद्ध करनेवाली श्रोतेन्द्रिय भी है मगर भगवान जो आत्मा है (वो) अपने को जानते-जानते परिणमता है। अपने जाननेरूप जो परिणमता है, वह

अपने को जानना छोड़कर इस श्रोतेन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने (या) जानने जाता ही नहीं है। ऐसा भेदज्ञान बताया है। बढ़िया गाथा हैं, दस गाथायें हैं।

मुमुक्षु: अनुभूति के संबंध में एक प्रश्न है। अनुभूति करने के लिए ज्ञान की पर्याय को द्रव्य के साथ कथंचित् अभिन्न होने की क्या आवश्यकता है?

पू. लालचंदभाई: अभेद ना हो तो आनंद ही नहीं है, अभेद नहीं हो तो सम्यग्दर्शन भी नहीं होता है। सर्वथा भिन्न नहीं है; ज्ञायक और ज्ञायक के आश्रय से होनेवाली अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय, कथंचित् अभिन्न है। जो अभिन्न न हो तो सम्यग्दर्शन नहीं होता है, अनुभव नहीं होता है, आनंद नहीं आता है। दृष्टि अपेक्षा से सर्वथा भिन्न, ज्ञान अपेक्षा से कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न। अनुभूति स्वयं पर्याय नहीं रही, अभी आत्मा हो गयी (वो)। अभेद होने से, अभेदनय से, अभेद द्रव्यार्थिकनय से देखो तो वो अनुभूति आत्मा ही है, पर्याय नहीं है।

मुमुक्षु: वो पर्याय क्या त्रिकाली हो जाती है?

पू. लालचंदभाई: पर्याय आत्मा हो जाती है। बस! पर्याय आत्मा हो जाती है यानि पर्याय और द्रव्य का भेद होने पर (भी) अभेद ज्ञेय के माध्यम से देखो तो द्रव्य और पर्याय का भेद दिखाई देता (नहीं है)। अभेद में पर्याय का भेद, अभेद ज्ञेय में पर्याय का भेद दिखाई नहीं देता है। और अभेद ध्येय में गुण-भेद दिखाई नहीं देता है। क्या कहा? अभेद ध्येय में, जो ध्येय है ध्यान का विषय, त्रिकालीद्रव्य, उस अभेद ध्येय में गुण-भेद दिखाई नहीं देता है; और जो ध्यान हुआ ध्येय का और ध्याता हो गया, तो ज्ञेय हुआ, द्रव्य पर्याय से अनन्य एकरूप हुआ तो वो ज्ञेय हुआ; तो उस ज्ञेय में पर्याय का भेद दिखाई देता नहीं है। भेद तो है मगर भेद दिखाई देता नहीं है, ऐसी बात है।

मुमुक्षु: ज्ञेय में पर्याय का भेद दिखाई नहीं देता और ध्येय में गुण-भेद दिखाई नहीं देता?

पू. लालचंदभाई: (हाँ, दिखाई) नहीं देता। इसका नाम निर्विकल्प अनुभव है। गुण-भेद भी है मगर दिखाई देता नहीं है और पर्याय-भेद तो है उत्पाद, उत्पाद है; ध्रुव तो ध्रुव है; उत्पाद ध्रुव नहीं बन जाता है।

मुमुक्षु: फिर ध्येय पूर्वक ज्ञेय होता है।

पू. लालचंदभाई: हाँ!

मुमुक्षु: क्या इसका ये मतलब है (कि) पहले ध्येय होता है पीछे ज्ञेय होता है?

पू. लालचंदभाई: एक समय ध्येय होता है और उस एक ही समय में ज्ञेय हो जाता है, काल-भेद नहीं है।

मुमुक्षु: तो 'ध्येय पूर्वक' ऐसा क्यों बोलते हो? ध्येय के साथ में ज्ञेय होता है न?

पू. लालचंदभाई: नहीं! ध्येय पूर्वक ही होता है ज्ञेय, उसमें मर्म है। आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्विकारी परिणाम प्रगट होते हैं। वो तो, ज्ञेय तो फल है। ज्ञेय तो फल है। आहाहा! मूल कारण तो ध्येय है; ध्येय के आश्रय से ध्यान होता है तो ध्येय, ध्यान और ध्याता अभेद हो जाते हैं - कथंचित् अभेद।

मुमुक्षु: एक भाई पूछते हैं (कि) दृष्टि के विषय में पर्याय का निषेध करने पर भी हमें पर्याय की महिमा क्यों आती है?

पू. लालचंदभाई: सचमुच निषेध नहीं आया (है, इसलिए)।

मुमुक्षु: इसका क्या अर्थ है?

पू. लालचंदभाई: प्रश्नकार ने कहा न? पर्याय का निषेध करने पर भी, क्या शब्द आया? पर्याय की महिमा आती है, इसका अर्थ महिमा पर्याय की है, द्रव्य की महिमा आयी नहीं!

मुमुक्षु: द्रव्य की महिमा नहीं आयी इसलिए पर्याय की महिमा आती है?

पू. लालचंदभाई: आती है, बस। पर्यायदृष्टि हो गई (है)।

मुमुक्षु: तो द्रव्य की महिमा कैसे आवे?

पू. लालचंदभाई: कैसे आवे? अपना जो परमात्मा है, मैं ही परमात्मा हूँ, मैं बंध-मोक्ष से रहित हूँ। आज तक आठ कर्म मैंने बाँधे ही नहीं हैं पूर्व में। आदि-मध्य-अंत में, मैं तो कर्म-अबंध हूँ, मैं तो मुक्त हूँ। ऐसे-ऐसे बहुत शब्द शास्त्र में आते हैं। तो वो आत्मा का जैसा स्वरूप है, जीवतत्त्व का, ऐसा स्वरूप ख़्याल में लेने से महिमा आती है कि मैं आनंद की मूर्ति हूँ। आनंद भरा है मेरे में, दुःख मेरे में है नहीं। दुख पर्याय में हो तो हो मगर मेरे में नहीं है। ऐसा द्रव्य-पर्याय का भेदज्ञान करने से द्रव्यस्वभाव की अधिकता आती है और पर्याय (की) गौणता हो जाती है। गौण होकर लक्ष छूट जाता है और द्रव्य का लक्ष आ जाता है तो अनुभूति हो जाती है। पर्याय नहीं है ऐसा नहीं; पर्याय गौण करके उसका लक्ष छोड़ देना।